शोध मंथन Vol. XII No.II April-June 2021 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com*

कबीरः सामाजिक चेतना की यथार्थता

डॉ0 जितेन्द्र कुमार परमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
म0प्र0 राजकीय स्ना0 महाविद्यालय सिकंदरा
राऊ (हाथरस)
ईमेलः jkparmar16@gmail.com

प्राप्तिः 28.04.2021
स्वीकृतः 15.06.2021

सारांश

कबीरदास के विराट व्यक्तित्व में सामाजिक चेतना के स्पंदन की अनुगूंज को साफ महसूस किया जा सकता है। कबीर के हृदय में अध्यात्म बोध की अनुभूति है तो चिन्तन में अन्याय और पाखण्ड का प्रतिरोध । वे जाति, धर्म, वर्ण, वर्ग आदि के नाम पर दूषित परंपराओं व व्यवस्थाओं का तिरस्कार करते हैं। कबीर के समय के अनाचार, धर्मान्धता, सामन्ती शोषण, आँख मूंदकर शास्त्रों के नियम का पालन आदि कुछ ऐसे वैचारिक प्रश्न थे जिनके विरूद्ध ही कबीर ''बाजार'' में खड़े होकर आम आदमी से एकजुट होने की बात करते हैं। कबीर की सामाजिक चेतना के निर्माण में पीड़ा, जाग्रति, आत्मज्ञान, विवेक की ही विशेष भूमिका है। आध्यात्मिक आधार पर देखें तो उनकी दृष्टि में अनेकत्व मिथ्या है। अनेकत्व के मूल में जो एकत्व है वही सत्य है इसलिए मानव–मानव में भेद परम अज्ञान का द्योतक है। वर्णव्यवस्था का विरोध, बाह्याचारों की निरर्थकता का पर्दाफाश, आचरण की प्रामाणिकता पर बल, हिन्दू–मुस्लिम एकता का आग्रह तथा जगत की नश्वरता के प्रति सजगता कबीर की सामाजिक चेतना के महत्वपूर्ण अंग हैं। उन्होने अपना विरोध सहज तर्कों, मर्मस्पर्शी उक्तियों तथा तीखे व्यंग्यों से प्रकट किया है । वास्तव में उनकी सामाजिक चेतना की लिखित अभिव्यक्ति हम भारतीय संविधान में भी लक्षित कर सकते हैं। इसलिए उनकी प्रासंगिकता को खारिज करना संभव नहीं।

मुख्य शब्द– *विराट व्यक्तित्व ,संवेदना, जागृति, विद्रोह, आध्यात्मिकता।*

प्रस्तावना

किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व के तमाम महत्वपूर्ण पक्ष होते हैं– कुछ आन्तरिक तथा कुछ बाह्य। किन्तु जब वो पक्ष विभिन्न आलोचकों की समीक्षा का केन्द्र बिन्दु बनते हैं तब वही पक्ष आलोचकों की दृष्टि–भेद के परिणाम स्वरूप भिन्न–भिन्न निष्कर्षों के प्रतिफलन के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं। कबीरदास के विराट व्यक्तित्व के तमाम महत्वपूर्ण पक्षों में से भी

किसी को कोई पक्ष अधिक महत्वपूर्ण लगता है तो किसी को कोई अन्य पक्ष। कोई उन्हें भक्त, तो कोई समाज सुधारक, कोई दार्शनिक, तो कोई कवि आदि विशेषणों से नवाजने का श्रम करता प्रतीत होगा। मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन के इस महत्वपूर्ण हस्ताक्षर के भक्त होने में किसी को कोई सन्देह नहीं। किन्तु जब रामस्वरूप चतुर्वेदी लिखते हैं कि ''बड़े कवि की एक पहचान यह हो सकती है कि कविता उसने अपने युग की संवेदना से बनाई है या नहीं,''[1] तो कबीर जैसे महान भक्त कवि की सामाजिक चेतना के स्पंदन की अनुगूंज को साफ महसूस किया जा सकता है। क्योंकि युग की संवेदना सामाजिक यथार्थ से आँख नहीं चुराने देगी। वास्तव में, कविता और समाज का रिश्ता बेहद अनूठा है। सार्थक कविता और प्रामाणिक कवि अपने समय की चेतना से स्वयं को निर्लिप्त नहीं रख सकते।

यदि हम वर्तमान परिदृश्य का गहराई से अवलोकन करें तो हमें कबीर के होने का अर्थ स्वतः ही समझ आ जायेगा और यह भी समझ आ जायेगा कि क्यों किसी युग में कबीर पैदा होते हैं क्योंकि 15वीं शताब्दी में जो सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियाँ मौजूद थीं, उन्होंने ही कबीर के व्यक्तित्व का निर्माण किया था, कमोवेश वो परिस्थितियाँ आज भी मौजूद हैं इसलिए कबीर का चिन्तन स्वतः ही वर्तमान में अपनी उपादेयता प्रमाणित कर देता है। कबीर मध्यकाल के ऐसे संत एवं क्रातिकारी कवि हैं जिनका व्यक्तित्व अन्याय और पाखण्ड के प्रतिरोध में निर्मित एवं विकसित हुआ है, इसलिए सामाजिकता कबीर के कवि–कर्म और अध्यात्म–बोध का अनिवार्य अंग है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तो डंके की चोट पर कहते है कि ''हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ।''[2] हांलाकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी समेत तमाम आधुनिक विद्वान कबीर को कोरा समाज–सुधारक नहीं मानते। जैसे–कि डॉ रामचन्द्र तिवारी का कथन है कि ''आधुनिक अर्थ में कबीर को समाज–सुधारक या समाज–दृष्टा नहीं कह सकते। उनकी चेतना मूलतः आध्यात्मिक थी। वे समाज–रचना के लिए किसी प्रकार के सुधारवादी आन्दोलन के पुरस्कर्ता न होकर मानव आत्मा की मुक्ति के लिए आध्यात्मिक संघर्ष करने वाले साधक थे।''[3] आचार्य द्विवेदी जी के अनुसार यद्यपि कबीर ने बहुत सी बातें कहीं जिनका उपयोग किया जाये तो समाज–सुधार में सहायता मिल सकती है लेकिन इस आधार पर उन्हें समाज–सुधारक नहीं कहा जा सकता। द्विवेदी जी कबीर के मूल व्यक्तित्व को भक्त ही मानते हैं जिसके इर्द–गिर्द उनकी अन्य प्रवृत्तियां भी प्रकाशित हो उठी हैं।

किन्तु भले ही कबीर मूलतः समाज सुधारक नहीं थे पर वे समकालीन समाज–व्यवस्था को आध्यात्मिक भाव–बोध के विरोध में देखते थे। इसलिए आध्यात्मिक मूल्यों एवं मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए उनका संघर्ष अनिवार्यतः उनकी सामाजिक चेतना से स्पंदित है। कबीर की सामाजिक चेतना का आधार तत्कालीन समाज में प्रचलित सामाजिक, धार्मिक एवं साधनापरक व्यवस्थाएं हैं जो मनुष्य की स्वाधीनता का हनन करती हैं, इसलिए कबीर की सामाजिक चेतना

मनुष्य की स्वाधीनता एवं धर्म के मूल स्वरूप की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध है। वास्तव में कबीर के आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक सन्दर्भ के अतिरिक्त उनका एक लौकिक सन्दर्भ भी है जो शायद अधिक महत्वपूर्ण है। कबीर उस मनुष्य जाति का आह्वान करते हैं जो जाति, धर्म, वर्ण, वर्ग, भाषा आदि व्यवस्थाओं के नीचे दबी हुई है। वे उन परंपराओं का तिरस्कार करते हैं जो समग्र मानव जाति के विकास में व्यवधान उत्पन्न करती हैं। उन रीति–रिवाजों को नहीं मानते जो एक मनुष्य को दूसरे से अलग करती हैं। कबीर इन्ही विसंगतियों को दूर करने के लिए उस घर को फूंकने की बात करते हैं जो इसका गढ़ है अथवा जो मनुश्य को मनुश्य से अलगाता है। कबीर का विद्रोह उनकी इन्हीं गर्हित परंपराओं से असहमति का विद्रोह है। अपने समकालीन संतों और भक्तों से तथा अपने अतीत के शास्त्रों व आचार्यों से, धर्म और दर्शन से उनका वैचारिक मतभेद ही प्रायः उनका विद्रोह मान लिया जाता है। कबीर जब घर फूंकने की बात करते हैं तो उनके इस आह्वान में किसी सुनिश्चित स्थिति का बोध नहीं होता लेकिन जब वह अपने साथ चलने की बात करते हैं तो निश्चय ही वह उन समस्त मनुष्य मात्र को एकजुट करने की बात करते हैं जिसके अभाव में लगातार अनेक संताप सहने पड़ते हैं। आधुनिक काल में शायद "मार्क्स" का यह कथन कबीर के ही अंदाज में है– "दुनिया के मजदूरो ! एक हो, तुम्हें हथकड़ियों के अलावा कुछ नहीं खोना है।" कबीर का दुःख या वेदना अहर्निश उसी समाज या मनुष्य मात्र के लिए थी जो अपना बुरा भला नहीं समझ पाता – "ऐसा कोई न मिला जासूं रहिए लागि, सब जग जरता देखिया अपनी–अपनी आगि"[4] यह अलग–अलग राग अलापने की शैली ने ही भारतीय समाज को छिन्न–भिन्न कर रखा था। कबीर का प्रयत्न इन्हीं को एकजुट करने का था।

शिवकुमार मिश्र लिखते हैं कि– ''यदि अपने स्वानुभवों पर, अपने रास्ते की सच्चाई पर उनका इतना अखंड विश्वास न होता तो अनपढ़ होते हुए भी पंडितों के गढ़ काशी में उनके पोथी ज्ञान को कठोर चुनौती देते हुए उन्हें इस प्रकार नहीं ललकारते कि –

''मैं काशी का एक जुलाहा, बूझहु मोर गियाना।''[5]

कबीर का आध्यात्म मूलतः उनकी मनुष्य मात्र के प्रति समदृष्टि, प्रेमभाव और व्यापक धर्मेतर दृष्टि से पनपकर ही निकला है। उनके बाह्याचार, भक्ति भाव और आध्यात्मिक विषयों से सम्बद्ध तीनों प्रकार के पद इसलिए एक ही जमीन की उपज हैं। उन्हे अलगाना संभव नहीं। अंतरिक्ष को छूने वाला यह साधक जमीन पर भी उतनी ही मजबूती से सधकर खड़ा हुआ है। "लिये लुकाठा हाथ" अथवा "रस गगन गुहा से अजल झरै" इन दोनों स्थितियों में कबीर का एक ही व्यक्तित्व है। कुछ विद्वानों ने कबीर के अनेक पद व साखियों को मात्र आध्यात्मिक गहनता पर ले जाकर व्याख्यायित किया है। किन्तु अपने काल के यथार्थ से और उसके विरूद्ध संघर्ष को न देख पाने से ही इस प्रकार का भ्रम पैदा होता है। कबीर के समय के अनाचार, धर्मान्धता, सामन्ती शोषण, आंख मूंद कर शास्त्रों के नियम का पालन आदि कुछ ऐसे वैचारिक प्रश्न थे जिनके विरूद्ध ही कबीर "बाजार" में खड़े होकर आम आदमी से एकजुट होने की बात करते हैं।

यहीं से कबीर की विद्रोह भावना अथवा असहमति भी व्यक्त होती है और उनके विराट व्यक्तित्व की पहचान भी मिलती है।

वास्तव में कबीर की सामाजिक चेतना के निर्माण में पीड़ा और जागृति की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उनकी सामाजिक चेतना शास्त्र से नहीं आयी है बल्कि आत्मज्ञान एवं विवेक से आयी है। उनके यहां आंख ही विवेक–चेतना का प्रतीक है– "तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता आंखिन की देखी।" डॉ0 त्रिलोकी नाथ जी भी लिखते हैं – ''कबीर जीवन के अत्यन्त निकट हैं। सहजता उनकी रचनाओं की सबसे बड़ी शोभा और कला की सबसे बड़ी विशेषता है। उनके काव्य का आधार स्वानुभूति या यथार्थ है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है : ''मैं कहता हूँ आंखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।'' वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज सुधारक, कारणों से प्रेरित होकर धर्म–सुधारक, प्रगतिशील दार्शनिक और आवश्यकतानुसार कवि थे।''[6]

कबीर दृष्टा ही नहीं है, भोक्ता भी हैं। वे व्यवस्था से टकराते हैं जिससे पीड़ा उत्पन्न होती है और यह पीड़ा भी चेतना देती है। शिव कुमार मिश्र लिखते हैं कि– ''जिस समय सारा समाज सुख की नींद सो रहा था, मनुष्यता के उज्जवल भविष्य का यह दृष्टा जाग रहा था। सारा समाज सुख–सुविधाओं को भोग रहा था, किन्तु कबीर दुःखों की भट्ठी में सुलग रहे थे, युग की पीड़ा का साक्षात्कार करते हुए आंसू बहा रहे थे। वे ऊपर से अक्खड़ और फक्कड़ थे किन्तु भीतर से नितान्त दुःखी तथा संतप्त, अपने लिए नहीं, कोटि–कोटि साधारण जनों की पीड़ा तथा व्यथा से। यह कबीर के मर्म से निकली वाणी है जो उनकी इन पंक्तियों में गूंजी हैं–

''सुखिया सब संसार है खावै अरू सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरू रोवै।।''[7]

कबीर की सामाजिक चेतना का एक आध्यात्मिक आधार भी है। उनकी दृष्टि में अनेकत्व मिथ्या है। संसार के अनेकत्व के मूल में जो एकत्व है, वही सत्य है। वह कहते हैं कि एक ही ज्योति से सारा संसार उत्पन्न हुआ है। उसमें ऊँच–नीच, ब्राह्मण–शूद्र आदि का विभाजन व्यर्थ है। रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं कि–

''कबीर के अनुसार यह सारा व्यक्त जगत एक ही तत्व से उत्पन्न है। इसलिए सभी प्रकार की भेद–दृष्टि मिथ्या है। मानव–मानव में भेद तो परम अज्ञान का द्योतक है। इसी तत्व–दृष्टि से प्रेरित कबीर ने जाति–पाँति, छुआ–छूत, ऊँच–नीच और ब्राह्मण–शूद्र के भेद का विरोध किया है। इसी आधार पर उन्हें समाज–सुधारक समझा जाता है।''[8]

कबीर कहते हैं–

एकै जोत सकल घट व्यापक दूजा तत्त न होई"

वास्तव में कबीर परम तत्व की सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करतें अतः वह संसार के सभी भेद–भाव को मनुष्यकृत अतः कृत्रिम मानते हैं।

कबीर की सामाजिक चेतना सीधे–सीधे मानवता को ह्रासोन्मुख एवं पतनशील बनाने वाली प्रवृत्तियों एवं कुरीतियों से टकराती है। इसलिए वर्णव्यवस्था का विरोध, बाह्याचारों की निरर्थकता का पर्दाफाश, आचरण की प्रामाणिकता पर बल, हिन्दू मुस्लिम एकता का आग्रह तथा जगत की नश्वरता के प्रति सजगता कबीर की सामाजिक चेतना के महत्वपूर्ण अंग हैं। कबीर अत्यंत तीव्रता से अपने समय की सामाजिक समस्याओं पर प्रहार करते हैं। डॉ श्यामसुन्दर दास लिखते हैं– ''कबीर स्वतंत्र प्रकृति के मनुष्य थे। उनके चारों ओर शारीरिक दासता का घेरा पड़ा हुआ था। वे इस बात का अनुभव करते थे कि शारीरिक स्वातंत्र्य के पहले विचार स्वातंत्र्य आवश्यक है। जिनका मन ही दासता की बेड़ियों से जकड़ा हो, वह पांवों की जंजीरें क्या तोड़ सकेगा। उन्होंने देखा था कि लोग नाना प्रकार के अंध विश्वासों में फंसकर हीन जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अतः लोगों को इसी से मुक्त करने प्रयत्न किया।.....उन्होंने किसी नामधारी धर्म के बंधन में अपने आपको नहीं डाला और स्पष्ट कह दिया है कि मैं न हिन्दू हूँ न मुसलमान।''[9]

कबीर के समय हिंदू मुस्लिम दोनो ही समुदायों में अज्ञान का बोल–बाला था। बाह्य आडंबर, पाखंड, जड़ता और कुरीतियां इस कदर हावी हो गई थीं कि धर्म का वास्तविक स्वरूप दब सा गया था। कबीर ने इन कुरीतियों के मूल पर निर्ममता से प्रहार किया और उनका मूलोच्छेद करने का प्रयत्न किया।

कबीर ने विभिन्न धर्मों में प्रचलित कर्मकांडो का विरोध इसलिए नहीं किया था कि वे उन धर्मों को हीन बताना चाहते थे। उनके अनुसार ये कर्मकांड मनुष्य को ईश्वर से विमुख करते हैं। इनमें उन्हें किसी सत्य का दर्शन नहीं हुआ। रामचन्द्र तिवारी लिखते हैं कि – ''कबीर ने साधना के सभी क्षेत्रों में बाह्याचार का विरोध किया है। वे सारे औपचारिक कर्म–विधान जिनके मूल में कोई तत्व नहीं है, कबीर के लिए व्यर्थ हैं। जिन नाथ योगियों से कबीर का सीधा सम्बन्ध जोड़ा जाता है उनके बाह्याचार का भी उन्होंने विरोध किया है। उन्होंने ऐसे योगियों की निन्दा की है जो हाट बाजार में प्रदर्शन के लिए तारी (ध्यान) लगाते हैं। प्रदर्शन करने वाले ये योगी कबीर की दृष्टि में कच्चे सिद्ध हैं, जो माया के बन्धन में पड़े हैं

''हाट बजारै लावै तारी।
कच्चा सिद्धहि माया पारी।।''[10]

वास्तव में कबीर की मौलिकता व दूरदर्शिता इस बात में है कि उन्होंने विरासत से प्राप्त संस्कारों का उपयोग सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया। उन्होने हिंदू धर्म में व्याप्त मूर्तिपूजा, मालाजाप, यज्ञोपवीत, तीर्थ–स्नान, व्रत–उपवास, दान–पुण्य आदि का विरोध किया। इसी प्रकार मुस्लिम धर्म के रोजा, नमाज, हज, हलाल, वजू आदि की भी आलोचना की। कबीर ने तमाम बाह्याचारों और खोखली मान्यताओं एवं विश्वासों की कमजोरी और निरर्थकता को सहज तर्कों, मर्मस्पर्शी उक्तियों तथा तीखे व्यंग्यों से प्रकट किया है। कुछ उदाहरण

पाहन पूजैं हरि मिलैं तो मैं पूजूं पहाड़।
तासै तो चाकी भली पीस खाय संसार।।
पाँहिन कूं का पूजिए जे जनम न देई जाब।
आँधा नर आसामुशी यौं ही खोवै आब।।''[11]
कांकर पाथर जोरि कै, मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे का बहरा हुआ खुदाय।।
मुल्ला मुनारे क्या चढ़हि, साँईं न बहरा होइ।
जाँ कारन बांग देहि दिल ही भीतरि जोइ।।''[12]

धार्मिक बाह्याचार की तरह कबीर ने जाति प्रथा और वर्णव्यवस्था पर भी चोट की। जन्म के आधार पर मनुष्य–मनुष्य में भेद करने वाली तथा मनुष्य की श्रेष्ठता का निर्धारण करने वाली वर्णाश्रम व्यवस्था की अविवेकता को कबीर एक वैज्ञानिक की तरह चुनौती देते हैं

जौ तू बांभन बंभनी जाया तौ आन बाट ह्वै क्यों नहिं आया।
जौ तू तुरक तुरकनी जाया तौ भीतर खतना क्यों न कराया।।''[13]

उनका विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य उसी एक ईश्वर की संतान है

"एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति से सब उतपना, कौन बाम्हन कौन सूदा।।''[14]

उनकी मान्यता है कि मनुष्यों में वर्ण के आधार पर भेद करना वास्तव में व्यवस्थाजनित षड़यन्त्र है। कबीर आचरण की प्रामाणिकता पर बल देते हैं। कथनी और करनी के अंतर से अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति करने वाली सामाजिक प्रवृत्तियों से वे अवगत थे, इसलिए वे विचार और कर्म की द्वैतता पर भी प्रहार करते हैं

"दिन में रोजा रखत ह्वौ, रात हनत हौ गाय।"

कबीर की कविता हिन्दू–मुस्लिम एकता का आग्रह करती है। कबीर दोनों में भेद उत्पन्न करने वाली तमाम कुरीतियों पर प्रहार करते हैं– कबीर के मत से चूंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है– भगवत्–प्रेम की प्राप्ति। अतः बाह्य आचारों को धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान एवं अकारण ऊँच–नीच का भाव अनुचित है

साधौ देखो जग बौराना।
सांची कहौ तौ मारन धावै झूंठै जग पतियाना।
हिंदू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।
आपस में दोऊ लड़े मरतु हैं मरम कोई नहिं जाना।।''[15]

कबीर विलासिता के निषेध के लिए लोगों को जागतिक नश्वरता के प्रति सजग करते हैं

पांणी केरा बुदबुदा ऐसी हमारी जाति।

एक दिना छिप जांहिगे तारे ज्यूं परभाति।।''[16]

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरूषार्थो में ''अर्थ'' का द्वितीय स्थान पर होना ''अर्थ'' की महत्ता को दर्शाता है। कोई भी ऐसी व्यवस्था जो आर्थिक समानता के आदर्श की स्थापना में अक्षम सिद्ध हो, स्वीकार करने योग्य नहीं हो सकती है। शासन–सत्ता का दायित्व भी है कि वह अमीर–गरीब के बीच की खाई को पाटकर आर्थिक विषमता को समाप्त करने का प्रयास करे। कबीर की दृष्टि इस आर्थिक विषमता की ओर जाती तो है किन्तु वह उसे नियति मानकर अपने

''अर्थ'' सम्बन्धी चिन्तन की अपरिपक्वता प्रमाणित करते प्रतीत होते हैं। जैसा कि रामचन्द्र तिवारी का कथन है कि – ''कबीरदास का ध्यान आर्थिक भेदभाव की ओर न गया हो, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने कहा है कि जो निर्धन है, उनका आदर कोई नहीं करता। जब निर्धन धनी के यहाँ जाता है तो वह मुँह फेर लेता है, किन्तु जब धनी निर्धन के यहाँ आता है तो वह उसका आदर करता है। वस्तुतः धनी और निर्धन दोनों भाई–भाई हैं। यह तो प्रभु की कला है जो दोनों दो स्थितियों में पड़ गये हैं। वास्तविक निर्धन तो वह है जिसके हृदय में भगवान का नाम नहीं है।''[17] वह आगे लिखते हैं कि '' कबीर को जितना आक्रोश सामाजिक और धार्मिक असमानता के प्रति है, उसका शतांष भी आर्थिक विषमता के प्रति नहीं है। एक आस्तिक भारतीय की भाँति वे धनी या निर्धन होना ईश्वर की कला का परिणाम मानते थे। आर्थिक विषमता भी मनुष्यों की ही स्वार्थवृत्ति का परिणाम है, यह उनकी समझ में नहीं आया था। वे यह मानते थे कि भगवान ने जिसके लिए जितना निश्चित किया है, उसे उतना ही प्राप्त होगा। चाहे जितना सिर खपाया जाये उसमें न एक राई कम हो सकता है न एक तिल बढ़ सकता है–

''जाकौ जेता निरमया, ताकौ तेता होइ।
राई घटै न तिल बढ़ै जो सिर कूटै कोइ।।''[18]

वास्तव में कबीर उस धरातल पर खड़े हैं जहां मनुश्य न हिंदू है न मुसलमान, न ऊँचा है न नीचा, वह केवल मनुष्य है। वे मानवमात्र को अपने अस्तित्व के अहंकार को त्यागकर परमात्मा के साथ एकमेव होने का उपदेश देते हैं। मानव मानव में समानता का उपदेश वे इसलिए देते हैं कि यही सही रास्ता है। शिव कुमार मिश्र लिखते हैं– ''मनुष्य को, समाज को तथा जीवन को जिस रूप में वे ढालना चाहते थे, जिस नए मनुष्य, नए समाज तथा नए जीवन की परिकल्पना उन्होंने की थी, उनके अपने समय की समस्त रूढ़िवादी–प्रतिक्रियावादी–प्रतिगामी शक्तियाँ उनके खिलाफ एकजुट थीं। एक दुर्द्धर्श और अपराजेय योद्धा की तरह वे आजीवन इन शक्तियों से जूझते रहे और उन्होंने उनके समक्ष घुटने नहीं टेके, उनसे हार नहीं मानी।'' वास्तव में उनका दृष्टिकोण पूर्णतः आध्यात्मिक था किन्तु उनकी भक्ति का ऐसा विस्तृत आयाम है जिसमें समाज सुधार स्वतः हो सकता है।''[19]

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह कह सकते हैं कि मध्यकाल के कुहासे में कबीर ने जिस सामाजिक चेतना का सूत्रपात किया, उसका संपूर्ण विकास आधुनिक भारत के

संविधान में दिखाई देता है। वर्णविहीन, ऊँच–नीच से मुक्त, समान अवसर और भाईचारे के आधार पर जिस समाज के निर्माण का सपना हमारे स्वतंत्रता सेनानियों व संविधान निर्माताओं ने देखा था, उस स्वप्न के बीज कबीर की सामाजिक चेतना में मौजूद हैं। किन्तु परिवर्तन और विकास का ढोल पीटने वाली इस व्यवस्था के सामने कबीर की सामाजिक चेतना के प्रश्न आज भी अनुत्तरित हैं।

धर्म, जाति और आभिजात्यता के आधार पर मनुष्य की एकता को खंडित करने वाली समकालीन समाज– व्यवस्था में कबीर की सामाजिक चेतना आज भी उतनी ही प्रासंगिक है जितनी वह इतिहास के उस दौर में थी।

सन्दर्भ ग्रंथ

1. *हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास*– रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोक भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद,संस्करण 1996, पृ0 **46**
2. *कबीर*– हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ0 **222**
3. *कबीर मीमांसा* – डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, लोक भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण 1996,पृ0 **134**
4. कबीर ग्रन्थावली– डॉ0 श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण 1998, पृ0 **52**
5. *भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य*– शिवकुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन इलाहाबाद संस्करण 1996, पृ0 **48**
6. *हिन्दी साहित्य का इतिहास*–सम्पादक डॉ नगेन्द्र संस्करण 2012, पृ0 **120**
7. भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य– शिवकुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन इलाहाबाद संस्करण 1996, पृ0 **51**
8. *कबीर मीमांसा* – डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, लोक भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण 1996, पृ0 **135**
9. *कबीर ग्रन्थावली*– डॉ0 श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण 1998, पृ0 **35**
10. *कबीर मीमांसा* – डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, लोक भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण 1996, पृ0 **136**
11. *कबीर ग्रन्थावली*– डॉ0 श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण 1998, पृ0 **34**
12. कबीर ग्रन्थावली– डॉ0 श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण 1998, पृ0 **96**
13. कबीर ग्रन्थावली– डॉ0 श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण 1998, पृ0 **79**
14. कबीर ग्रन्थावली– डॉ0 श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण 1998, पृ0 **82**
15. विकीपीडिया
16. कबीर ग्रन्थावली– डॉ0 श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण 1998, पृ0 **57**
17. कबीर मीमांसा – डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, लोक भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण 1996, पृ0 **138**
18. कबीर मीमांसा – डॉ0 रामचन्द्र तिवारी, लोक भारतीय प्रकाशन इलाहाबाद, संस्करण 1996, पृ0 **139**
19. *भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य*– शिवकुमार मिश्र, अभिव्यक्ति प्रकाशन इलाहाबाद संस्करण 1996, पृ0 **48**